

समकालीन हिन्दी कविता का आर्थिक परिदृश्य

उमेश कुमार पाण्डेय^{1a}

^aअसिस्टेन्ट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सर्वोदय किसान पी०जी० कालेज, कौड़ीराम, गोरखपुर, २०५०, भारत

ABSTRACT

व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्र के निर्माण एवं विकास में आर्थिक पक्ष का महत्वपूर्ण योगदान होता है। जो देश अर्थव्यवस्था की दृष्टि से अव्यवस्थित तथा दुर्बल होगा, वह निश्चित ही विकास की प्रक्रिया में पिछड़ जायेगा। आज का समाज परिवर्तित परिवेश में साँस ले रहा है धन का महत्व आज इतना बढ़ गया है कि छोटा से भी छोटा कार्य धन के अभाव में होना मुश्किल है। परिणामस्वरूप समाज में आर्थिक विषमताओं का प्रादुर्भाव हुआ ही है साथ ही समाज में आर्थिक असंतोष भी उत्पन्न हुआ है। फलतः वर्तमान समय में देश तमाम गंभीर अपराधिक समस्याओं से जूझ रहा है। समकालीन कवि और कविता इन आर्थिक विषमताओं का प्रत्यक्ष दृष्टा ही नहीं अपितु भोक्ता भी है, क्यों की यथार्थ परक रचनाकार समाज में हो रही विसंगतियों को स्वयं भोगता है, और तभी वह विसंगति का किरण सशक्त ढंग से अपनी रचनाओं के माध्यम से करता है। यथार्थ तो यह है कि समकालीन हिन्दी कविता आज के आर्थिक परिदृश्य की तमाम विसंगतिपूर्ण विडम्बना को कड़े शब्दों में व्यक्त करती हुई समाजोन्मुखी दिखाई पड़ती है।

KEY WORDS: समकालीन कविता, अर्थव्यवस्था, भारतेन्दु युग, आर्थिक नीतियां और कविता

समाज में आर्थिक रूप से निर्बल व्यक्तियों का आर्थिक शोषण यो तो न जाने कब से चला आ रहा है, पर हिन्दी कविता में इस स्थिति का यथार्थ चित्रण भारतेन्दु काल से ही दिखाई देता है। दीन भये बलहीन भये धन हीन भये सब बुद्धि हिरानी/ऐसा न चाहिए आपु के राज प्रजागन ज्यो मछुरी बिनु पानी/टिक्कस देहु छुड़ाई कहै सब जीवों सदा विकटोरिया रानी। (भारतेन्दु रचनावली, पृ० ८६७)

इसके अतिरिक्त भीतर ही भीतर आर्थिक शोषण करने वाले किन्तु ऊपर से मीठे और सुभाषी बने रहने वाले अंग्रेजों पर भारतेन्दु जी की गहरी यथार्थ दृष्टि उनकी कविताओं में देखी जा सकती है....भीतर-भीतर सब रस चूसे, हँसि-हँसि के तन, मन, धन, मूसे,/जाहिर वातिन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहीं अंग्रेज। (वही) इस तरह भारतेन्दु युगीन कवियों में विशेषकर बाबू भारतेन्दु ने अंग्रेजी शासन व्यवस्था के आर्थिक शोषण की सभी नीतियों का विरोध यथार्थपरक ढंग से अपनी कविताओं में किया है। आर्थिक विसंगतियों के प्रति गहरा आक्रोश एवं असंतोष प्रगतिशील आन्दोलन के साथ उभर कर हिन्दी काव्य क्षितिज पर आया।

प्रगतिशील कवियों ने युगों-युगों से शोषित मजदूरों किसानों एवं निर्बलों के प्रति अपनी संवेदना दर्शाते हुए सामाजिक शोषकों एवं पूँजीपतियों के दमन एवं शोषकीय प्रवृत्ति का यथार्थ उद्घाटन अपनी कविताओं में किया। गरीब किसान के बेटे को अपने पिता की मृत्यु के बाद मिलने वाली विरासत के यथार्थ को कवि केदार नाथ अग्रवाल अपनी कविता 'पैतृक सम्पत्ति' में प्रस्तुत किया है। जब बाप मरा तब यह पाया, भूखे किसान के बेटे

न/घर का मालबा, टूटी खटिया, बनिये के रूपयों का कर्जा/जो नहीं चुकाने पर चुकता, बस यही नहीं जो भूख मिली/सौ गुनी बाप से अधिक मिली, अब पेट खलाये फिरता है (अग्रवाल, २००९ पृ० ३०)

प्रस्तुत कविता में निर्धनता से ज्यादा निर्धन होते जाने का यथार्थ व्यक्त किया गया है। यह स्थिति वर्तमान समय में भी अभी जारी है। यथार्थवादी समकालीन रचनाकार की रचनाओं में निश्चित ही समाज की धड़कने सुनी जा सकती है यह सर्वमान्य तथ्य है। दो सौ रूपल्ली माहवार पर, बारह जनों का परिवार कैसे चलता है/समझ कर क्या करोगें?, क्या करोगे समझकर कि रात के दो बजे/मुहल्ले में किसकी कार आती है, उस समझ में क्या धरा है/जो रह रह कर छक्के छुड़ाती है (पाण्डेय, १९९२ पृ० ०८)

साहित्य में राजनीति के आर्थिक पहलुओं को लेकर इधर कुछ वर्षों से लगातार बहसें जारी है। इससे नयी आर्थिक नीति के साथ एक ऐसी भाषा चल रही है जो उसके वास्तविक उद्देश्यों एवं अभिप्रायों को छिपाती है। नयी आर्थिक नीति का एक नारा है उदारीकरण! क्या अर्थव्यवस्था को उदार बनाने के लिए दुनियाभर के देशों की वित्तीय संस्थाओं से कर्ज लेना जरूरी है? यह अर्थव्यवस्था का उदारीकरण है या उधारीकरण! समकालीन कवि इस तथ्य को भी अपनी कविताओं में यथार्थ के साथ चित्रित करता हुआ दिखाई दे रहा है। समकालीन अर्थन्मुखी बाजार में सब कुछ खरीदा और बेचा जा सकता है। यहा तक 'दिल' और 'जान' भी। प्रो० मेनेजर पाण्डेय इस बाजारीकरण प्रक्रिया को याद दिलाते हुए 'गालिब' की इन पक्तियों का स्मरण करते हुए कहते हैं - "ले आयेगे बाजार से जाकर दिल-ओ-जाँ"। बाजार व्यवस्था में आदमी इन्सान नहीं होता, वह उत्पादक और उपभोक्ता होता है,

पाण्डेयः समकालीन हिन्दी कविता का आर्थिक परिदृश्य

या फिर खरीददार और विक्रेता। उसमें आदमी के सपनों, भावों, विचारों और उसके अन्तर्गतामा के पुकार के लिए कोई जगह नहीं होती। वह खुद बिकाऊ वस्तु बन जाती है। (वही, पृ092)

बाजार व्यवस्था के इस अमानवीयकरण की प्रक्रिया के ठीक विपरीत मनुष्य को अधिक मानवीय बानने का माध्यम है साहित्य। इसलिए बाजार के प्रकृति से साहित्य का कोई मेल नहीं। बाजार का एक जाना पहचाना मुहावरा है, फर्क नहीं पड़ता, मानवीय सम्बन्धों की दुनिया में इस मुहावरा का प्रचलन विडम्बनापूर्ण स्थिति उत्पन्न करता है। इस स्थिति का पहचान वहाँ कर सकता है जिसके सामाजिक संवेदनशीलता में यथार्थता भी शामिल होगी—पर सब तो यह है कि यहाँ, या कही भी फर्क नहीं पड़ता/तुमने जहाँ लिखा है ‘प्यार’, वहाँ लिख दो सङ्क/फर्क नहीं पड़ता, मेरे युग का मुहावरा है, फर्क नहीं पड़ता। (दास, पृ022)

समकालीन फलक पर बेरोजगारी विकाराल समस्या के रूप में उभरी है, अर्थव्यवस्था ठहरी सी दिखाई पड़ती है। घरेलू उद्योग—धन्धे तालाबन्दी के शिकार हो गये हैं, सूदखोरी और सट्टेबाजी से बेतिहासा पूँजी का संचय हो रहा है। परिणामतः वर्तमान समाज विघटन की दिशा की ओर उन्मुख है। जहाँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, /हमारी आँत में छिपे कीड़ों की तरह रहती हैं/ और सिफ अपने ट्रेडमार्क से,/हमारे निर्मित जूते को हमें ही/महर्गे दामों में बेच देती है। (पलप्रतिपल अंक 42 पृ0166) इतना ही नहीं बाजार के चपेट में पूरा घर परिवार भी आ गया है। बच्चों के खिलौने तक बनाने वाली ये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ मध्यम वर्गीय परिवार की सोच बदल देने के लिए नये—नये तरीकों से नई—नई वस्तुएँ बेच रही हैं बाजार की चपेट में आ गया है, घर—परिवार/खरीदने की होड़ में शामिल हैं, बच्चे/वे खिलौनों में बंदूक, टैंक और एके—56 खरीद रहे हैं। (वही पृ0165)

समकालीन परिदृश्य में बाजार की वस्तुओं का सम्पूर्ण व्यवसाय विज्ञापनों में टिका है। वस्तुओं को बनाने में आने वाली लागत से अधिक व्यय उनके विज्ञापनों पर किया जा रहा है। इस यथार्थ का चित्रण समकालीन कवि संचेष्टता के साथ करता हुआ दिखाई दे रहा है/विज्ञापन बालाओं के बिना सूना है बाजार/वे न रहें तो बाजार में पड़ गये अकाल/मुफ्त में कोई चीज न बिके/सामान बेचते समय ग्राहकों की/दुङ्गी इस ढंग से सहलाती है /जैसे, वह पालतू बिल्ली की पीठ हो। (पाण्डेय, पृ025)

बाजार में दुकानदार अपनी चीजों को अधिक से अधिक बेचने के लिए तरह—तरह के रास्ते अपनाते हैं जहाँ एक तरफ दुकानदार थोड़ा मूल्य कम लेता है, तो वही दूसरी तरफ बड़े ही चालकी से ग्राहक को तौल में कमी कर देता है। ऐसी स्थिति में दुकानदार और ग्राहक दोनों ही एक दूसरे को खुश करने की कोशिश करते हैं। इस यथार्थ का चित्र इन पक्षियों में देखा जा

सकता है—ग्राहक बांट देखता है, दुकानदार जेब देखता है/कोई नहीं देखता है, किसी का चेहरा बाजार में/थोड़ा सा तौल अधिक, ग्राहक मुस्कराते हुए लौटता है/दुकानदार ज्यादा मुस्कराता है। (पल प्रतिपल अंक 42 पृ0166)

समकालीन परिदृश्य में बाजार की जो स्थिति है उसे आसानी से नहीं समझा जा सकता। पहले समय में रूपये का मूल्य होता था, आज रूपये का अवमूल्यन हो गया बाजार में आज वही टिक पाता है, जिसके पास अकूत क्रय शक्ति है—आसान नहीं है, बाजार को समझ पाना/जिसके पास अकूत क्रय शक्ति, उसके पास बाजार है/वह ग्राहक और वस्तु को, एक साथ, खरीदने का हुनर जानता है। | समकालीन आर्थिक परिदृश्य में रूपये का महत्व इतना बढ़ गया है, कि शाश्वत रिश्ते भी इनके आगे बौने होते जा रहे हैं। रूपये से सम्बन्ध बन एवं बिगड़ रहे हैं, ऐसा लगता है स्नेह महज एक अनुबन्ध सा हो गया है और जिसके माप के लिये स्वार्थ की तुला को कसौटी माना जा रहा है अब इस दुनिया में, स्नेह अनुबन्ध/रोज बनते बिगड़ते हैं, अब इस बाजार में/प्रियता की नाप तौल, स्वार्थ की तुला पर/लोग करते हैं, इसलिए, स्नेह ने भागकर /अपना मुख छुपा लिया है, आज शब्दकोषों में। (स्वरचित)

इस प्रकार समकालीन कवि, आर्थिक परिदृश्य को समझते हुए उसे अपनी रचनाओं में यथार्थ ढंग से प्रस्तुत कर रहा है, वर्षों पूर्व समाज को उसके यथार्थ रूप में देखने वाले सन्त कबीर ने कहा था/साँई इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय/आप न भुखा मै रहु, सन्त न भुखा जाय। इस पक्षि के माध्यम से सामाजिक आर्थिक विषमता का अप्रत्यक्ष ढंग से विरोध कबीर ने किया था। एक व्यक्ति अपनी आवश्यकता से उतना ही धन रखे जिसके द्वारा वह अपने को सन्तुष्ट रहे, और दूसरे की भी सहायता कर सकें। इस उपदेश के पीछे समाज की अर्थव्यवस्था की विषमता छिपी हुई है। आज व्यक्ति को उतना ही नहीं चाहिए जिससे वह सन्तुष्ट रहे, बल्कि उसको सब कुछ चाहिए जहाँ उसकी तृष्णा की तृप्ति नहीं हो पा रही।

सन्दर्भ

भारतेन्दु रचनावली – द्वितीय संस्करण, पृ०-867

पाण्डेय, डॉ० मैनेजर (1992) साखी प्रवेशांक, अक्टूबर/दिसम्बर,

पाण्डेय, डॉ० गणेश प्रसाद अटा पड़ा था दुख की हाट

पल प्रतिपल अंक-42, पल प्रतिपल अंक-42, पृ०-165

अग्रवाल, केदारनाथ (2009) फूल नहीं रंग बोलते हैं इलाहाबाद, साहित्य भण्डार,

अग्रवाल, भारतभूषण आलोचना पूर्णांक,